

---

---

# अध्याय चौथा

---

---

---

---

कबीर के काव्य में अभिव्यक्त  
'समाज-दर्शन' का महत्व।

---

---

‘कबीर के काव्य में अभिव्यक्त ‘ समाज - दर्शन ‘ का महत्व।’

कबीर एक युग द्रष्टा पुरनछा थे । उनकी दृष्टि समग्र जीवन पर थी और जीवन समाज का एक अंग है । इसीलिए उसे भी वे अपनी दृष्टि से ओझाल नहीं कर सके । इस के अतिरिक्त उनका युग व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का था । सामाजिकता उस समय थी नहीं थी । धर्म आदि की दृष्टि से जो अपने उत्थान में लगे थे , उनका समाज से जैसे कोई संबंध ही नहीं था, उन्हें केवल अपना ध्यान था । इस की प्रतिक्रिया स्वरूप भी कबीर का ध्यान व्यष्टि के साथ समष्टि पर गया और एक की उन्नति दूसरे के बिना उन्हें असंभव दिखायी पड़ी । इसलिये उन्होंने व्यक्ति और समष्टि को मिलाने की चेष्टा की । मानव-समष्टि ही नहीं अपितु अहिंसा, दया, तथा ‘कबहूँ’ का विरोध आदि के द्वारा उन्होंने जीव मात्र को इस परिधि में लिया ।

यों तो कबीर जो सोचते उसी को कहने और करने में विश्वास रखते थे । किन्तु इस व्यापक दृष्टिकोण के कारण भी यह आवश्यक था कि चिन्तन की सारी धाराएँ एक दूसरे के अनुरूप हों । इसी कारण कबीर के दर्शन , उनकी मक्ति, उनके धर्म और उनके आचारिक एवं सामाजिक विचारों को हम पूर्णतया समझ पाते हैं ।



कबीर-दर्शन की आधारशिला अनेकत्व में एकत्व की स्थापना करनेवाला अद्वैतवाद है। अज्ञान, के कारण अनेकत्व हमारे जीवन के चारों ओर फैल जाता है जिसके फलस्वरूप एकत्व की भावना का दम घुटने लगता है और हम पारस्परिक विरोध, घृणा आदि की अग्नि में निरंतर जलते रहते हैं। जहाँ भेद-बुद्धि है, अनेकत्व की भावना है, वहाँ 'मेरी' की उद्भरण रेषाएँ हैं, जहाँ अंततोगत्वा दुःख है और विनाश है। इस अग्नि को शीतल करता है, प्रेम और एकत्व की भावना का जल। कबीर भी यह मानते हैं और सन्सार के अन्य अधिकांश विचारक भी, किन्तु कबीर जिस समय हुए थे उस समय भारतीय समाज के संवालों में कथनी और करनी में बड़ा व्यवधान उपस्थित हो गया था। हिन्दू समाज का नियमन करनेवाला ब्राह्मणवर्ग जहाँ सैद्धांतिक दृष्टि से एकता तथा समानता का हामी था, वहीं व्यवहार पक्ष में वह गुण-कर्मनुसार चतुर्वर्ण्य-व्यवस्था को मानता था। जो कबीर के समय तक आते-आते गुण-कर्मनुसार न रहकर वस्तुतः कुल-जन्मानुसार हो गयी थी। ब्राह्मण केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से अपने को उच्च मानता था, चाहे उसकी दिनचर्या वैश्य या शूद्र की ही क्यों न हो। दूसरी ओर शूद्र कुल में जन्म लेनेवाला शूद्र की ही छाप लिए मरता था, चाहे उसके गुण-कर्म कितने भी सर्वश्रेष्ठ क्यों न हों। यह स्थिति अब भी है, किन्तु जिस समय कबीर हुए थे उस समय कुल-मर्यादाओं के झूठे अभिमान तथा बाह्यचार के धोधे जंगल के कारण हिन्दू समाज का पतन हो रहा था।

### कबीर-युग की वर्ण-व्यवस्था और उसके दोष --

इस काल में अनेकानेक जातियों तथा उप-जातियों के उपास्य के साथ - साथ समाज का चतुर्वर्ण्य विभाजन अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह गया था। परन्तु उसका ढाँचा मात्र बला आ रहा था। मुस्लिम-सत्ता की प्रतिष्ठा के समय भारतीय समाज की स्थिति निम्नलिखित थी --

- (क) समाज में कई प्रकार की विभक्तियाँ थीं। इन में पाण्डित्य - पूर्ण मूर्खता एवं ऐश्वर्य तथा गरीबी का विभाजन स्पष्ट था।
- (ख) वर्ण का विभाजन, जाति के विभाजन के रूप में परिणत हो चुका था।
- (ग) सामान्य वर्णों में भी आत्मोन्नति की प्रबल आकांक्षा जग चुकी थी। शत्रुओं के एक दल ने राजनीतिक सत्ता हस्तगत कर हाकियों के साथ स्पर्धा करनी चाही और दूसरे दल ने ज्ञान के क्षेत्र में पण्डितों और धर्माचारियों को लक्ष्यारण्य बनाया।
- (घ) समाज में स्त्रियों का स्थान नहीं रह गया था। स्वतंत्रता छिन चुकी थी और वे घर के घरे में घिर चुकी थी।
- (च) धनिकों का जीवन अत्यन्त विलासपूर्ण था। साधारण जनता एवं भृत्यों का जीवन कष्टपूर्ण था।

धर्म-शास्त्रों के आधार पर प्रस्तुत की गयी वर्ण-व्यवस्था कबीर के अनुसार स्वाभाविक नहीं थी। उनका कहना है कि यदि सृष्टि-कर्ता को वर्ण-व्यवस्था स्वीकृत थी तो उसने ब्राह्मणों की पहचान के लिए उनके ललाट पर कोई तिलक का चिह्न क्यों न बना दिया ? उनके जन्म का भी कोई दूसरा उपाय क्यों न किया ? जिससे वे शत्रुदि से संभक्तः भिन्न समझा लिए जाते। कबीर ने इस संबंध में ब्राह्मणों एवं हाकियों की तत्कालीन दुरवस्था की ओर भी विशेष ध्यान दिलाया है और कहा है कि ब्राह्मण लोग जहाँ वेदादि के केवल अध्ययन मात्र में मूले रहते हैं अथवा संन्या, तर्पण, षाट्कर्म आदि के झामेले में पड़े रहते हैं और उनके वास्तविक रहस्यों को नहीं जान पाते वहाँ हाकिय भी हाकियोचित कर्मों की उपेक्षा करते हुए जीवों की निरर्थक हत्या किया करते हैं और जीव-रक्षा का नाम भी लिया करते हैं।

“ पंडित मूले पठि गुन्य बेदा, आप न पाँव नांनं भेदा ॥

संन्या तरपन अरन छोट करमां, लागि रहे इनके आशरमां ॥”

“ सत्री करै सत्रिया धरमां, तिनकू होय सवाया करमां ॥

जीवहि मारि जीव प्रतिपारै, देवात जन्म आपनां हारै ॥”

वर्ण-व्यवस्था पर कबीर की आस्था इसलिए नहीं थी क्योंकि वर्ण - व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना निहित रहती है। ऊँची करनी करनेवाले को वे उच्च मानते हैं, न कि निकृष्ट करनी करनेवाले ब्राह्मण को। उनका स्पष्ट और सही अभिमत है, जिस प्रकार से विविध रंग की गौवों से एक ही प्रकार का स्फेद दूध निकलता है, उसी प्रकार जगत्-नियंता के यहाँ से आए हुए सब मानव एक हैं, न कोई ब्राह्मण है और न कोई शूद्र। सब भगवान की ही संतान हैं। सब में एक ही समान जीव है, आत्मा है, अतः यह सब मनुष्य है और कुछ नहीं। इससे स्पष्ट है कि कबीर ने मनुष्य-मनुष्य के बीच, समुदाय, धर्म, जाति अथवा विचार के कृत्रिम भेद को सर्वथा तुच्छ माना और उन्होंने सब के अंतराल में प्रवाहित होनेवाले विश्व-प्रेम और साँहाद्र - भाव को देखा - पहचाना और उसी को उन्होंने अपनी बाणियों में व्यक्त किया।

### हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव --

मुस्लिम राज्यों की स्थापना के साथ मुस्लिम और काजी की प्रधानता जिस मात्रा में बढ़ी, उसी मात्रा में हिन्दू राज्यों के विघटन द्वारा ब्राह्मणों और पण्डितों का महत्व घटा। धार्मिक असहिष्णुता का कठिन आघात इसी वर्ग को सहन करना पड़ा। पण्डित जन दम्भी, पाषण्डी और आडम्बरपूर्ण हो गए थे। कबीर के समय लोदी वंश के मुस्लिम शासकोंकी तृती बौली जाती थी और इस्लाम के खिलाफ कुछ कहना आसान काम नहीं था। मुसलमानों के कुरान, रोजा, मस्जिद, नमाज और सुन्नत आदि धार्मिक रूढ़िवादिता का कबीर ने निर्ममता से खण्डन किया है। वे कहते हैं - काजी तुम किस किताब का बखान करते हो, उस को पढ़ते-सुनते सभी नष्ट हो जाते हैं, किसी को कोई सबर नहीं मिलती। तुम्हारा आग्रह मुसलमान ( तुर्क ) बनाने का है, पर यदि बुद्धा मुझको मुसलमान बनाना चाहेगा तो मेरी सुन्नत बुद्धबुद्ध हो जायेगी। फिर औरत का क्या किया जायेगा ? वह मुसलमान कैसे होगी ? और तो और वह अर्धांगिनी है, फिर तो उसे हिन्दू ही रहना पड़ेगा। अतः कुरान के कारण तुम जो जुल्म करते हो, उसे छोड़ कर राम मन्म करो। ३

काजी कान क्तेब बखाने ।  
पढत-पढत केते दिन बीते, गति एक नहीं जाने ॥ टेक ॥  
स्कृति से नेह पकरि करि सुनति, यहु न बदू रे माई ।  
जाँर बुदाइ तुरक मोहि करता, तो आपे कटि किन जाई ॥  
हाँ ताँ तुरक किया करि सुनति, औरति साँ का कहिये ।  
अरघ सरीरी नारि न छूँ, आधा हिन्दू रहिये ॥  
छाँडि क्तेब राम कहि काजी, सुन करत हाँ भारी ।  
पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झाछा मारी ॥ ४

इस प्रकार मुसलमानों के बाह्याचार का खण्डन तो उन्होंने ऐसी निर्भयता से किया है जिसकी कोई तुलना नहीं । सुन्नत के विरोध में वे जिस युक्तिका आश्रय लेते हैं, वह समस्त खण्डनात्मक साहित्य में अपना सानी नहीं रखती ।

हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव का कबीर ने तीव्रता से खण्डन किया है । एक ही ईश्वर ने एक ही मिट्टी से अनेक प्रकार के पदों की रचना की है । उन पदों में भेद-बुद्धि अथवा ऊँच-नीचता की कल्पना मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नहीं । हिन्दू-मुसलमान के पारस्परिक भेद को मूर्खता पूर्ण बताते हुए कबीर कहते हैं --

गहना एक कनक ते गहना ता मे भाव न दूजा ।  
कहन सुन को दुई करि पापिन इक नमाज उक पूजा ।  
कोई हिन्दू कोई तुरक कहायै एक जमीं पर रहित ॥  
वेद क्तेब पढे वे कुत्बा, वे मुल्ला वे पांढे ।  
विगत विगत के नाम धरायो, एक माटी के भांढे ॥  
कहँ कबीर वे दोनुं झागरे रामहि कन्हू न पाया ।  
वे ससिया, वे गाय क्यारै बाटे जन्म गंवाया ॥ ५

एक ही सोने से अनेक गहने बनते हैं, कहने मात्र के लिए उसमें भेद है । उसी प्रकार ईश्वर की पूजा और नमाज यह कहने मात्र के लिए अलग अलग है, उनमें एक ही भाव है । एक ही जमीं पर रहनेवाले कोई हिन्दू और कोई मुसलमान कहलाते

है। पाण्डे वेद-किताब पढ़ते हैं, तो मुस्ला कुरान पढ़ते हैं। एक ही मिट्टी के बर्तन अलग-अलग नामों से पहचाने जाते हैं। वे मेड़-बकरी काटते हैं, तो वे गाय मारते हैं। कबीरदास कहते हैं कि वे दोनों ही झागड़ते रहते हैं और ऐसा करने से इनमें से किसी ने भी सच्चे राम को न तो पहचाना, न ही पाया।

इसप्रकार हिन्दू-मुस्लिम मेद-भाव को हटाकर उनके बीच ऐक्य-भाव निर्माण के कबीर के प्रयास के बारे में डा. रामकुमार वर्माजी लिखते हैं, 'हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की साम्प्रदायिक सीमा तोड़कर उन्हें एक ही भावधारा में बहा ले जाने का अपूर्व बल कबीर के काव्य में था। और यह बल जनता के बीच बौली और समझी जानेवाली रनसी और अपरिष्कृत भाषा के ऊपर अवलम्बित था जिसमें धार्मिक पाखण्डों और अंध-विश्वासों को तोड़ने का विद्युत वेग था। जहाँ भारतीय समाज में हिन्दू और मुसलमानों के बीच बन्धुत्व-भाव का अंगुर उत्पन्न करना कबीर का अभिप्राय था वहाँ व्यक्तिगत साधना की पवित्र अनुभूति भी उनका लक्ष्य था। अपने स्वतंत्र और निर्भीक विचारों से उन्होंने सुधार के नवीन मार्ग की ओर संकेत किया। उनकी समदृष्टि ने ही उन्हें सर्वज्ञानी और सार्वभौमिक बना दिया।'<sup>६</sup>

#### समाज में व्याप्त धर्माडम्बर --

कबीर ने समाज में व्याप्त धर्माडम्बर का सुलकर विरोध किया। सच्ची बात तो यह है कि उन्होंने प्रत्यक्ष और यथार्थ रूप में देखा तथा अनुभव किया था कि दूसरों को मार्ग दिखाने का दम्भ मरनेवाले वस्तुतः स्वयं कुछ जानते ही नहीं। ये धर्माचार्य शास्त्र की दुहाई देकर अर्थ का अर्थ कर रहे थे। उनकी व्याख्या से कबीर का कथन मेल नहीं खाता था। अतः कबीर मुस्ला-ग्रण्डित को स्फुरते हुए कहते हैं --

'मैं कहता हूँ औं खिन देखी, तू कहता है कागद लेखी।'<sup>७</sup>

मुस्ला-ग्रण्डित जब शास्त्र को प्रत्यक्ष से अधिक महत्त्व देते हैं और सामान्य जनता इस पर विश्वास करती है, तो कबीर को कहना पडा --

'वेद किताब कहां मत् झूठे, झूठा सोई जो नाहि विचार'।'<sup>८</sup>



कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी प्रत्यक्षानुभूति और वेदों में विरोध वास्तविक न होकर धर्म-ग्रंथों को ठीक ढंग से न समझने के कारण है। अपनी अनुभूति के आधार पर कबीर का लोगों को भी सुझाव है कि उन्हें परम्परा के मोह में न पडकर स्वतंत्र चिन्तन को अपनाना चाहिए क्योंकि इसी से आनन्द की प्राप्ति संभव है --

‘आप ही आप विचारिक तब केता होई अन्द रे ॥’

बाह्याचार अर्थ हीन है। सारे बदन पर मसम लेपन करना, दिल में तीन बार धर्म के नाम पर नहाना, उपवास रखना, तीर्थयात्रा पर जाना, मालाएँ फेरना, जोर-जोर से ईश्वर नामोत्थारण का प्रदर्शन करना, अपने शरीर को दण्डित करने में आनन्द लेना ये सब कबीर के तीव्र व्यंग्य और घोर उपहास के विषय हैं --

‘अल्ह राम जोऊं तेरे नाई ।

बन्दे परि मिहर करौ मेरे सोई ।

क्या ले माटी मुँह सँ मारै, क्या जल देत नुवाये ।

जोर करे मस्कीन स्तावै, गुन ही रहै छिपाये ॥

क्या उजू जप मंजन कीये, क्या मसीती सिर नाये ।

रौजा करे निमाज गुजारै, क्या हज काबै जाये ॥

ब्राह्मण प्यारसि करे चाँबीसो, काजी मोहै रमजान ।

प्यारह मास जुदे ब्यँ कीये, एकहि माँहि समान ॥

औ र खुदाई मसीति बस्त है, दुहँ मै किन्हुँ न हेरा ।

पूरिब दिसा हरि का बासा, पछिम अल्ह मुकामां ॥

दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि इहाँ राम रहिमाना ॥’

कबीरदास अल्लाह के नाम को, राम के नाम को जीवनधार बनाकर उनकी दया की प्रार्थना करते हैं। वे अंतःकरणपूर्वक किए जानेवाले नाम-स्मरण को महत्त्व देते हैं, तथा बाइसाइबर का तीव्र व्यंग्य और उपहास करते हैं। अनेकों बार नहाने-धोने से तथा शरीर को मिट्टी पँनासने से क्या होता है? वजू, जप-मंजनादि करने से, मस्बिद में सिर नवाने से, रौजा रखने से और नमाज पढ़ने से, हज-काबा जाने से क्या होता है? ब्राह्मण चाँबीस एकादशियाँ उपवास करते हैं तो काजी पूरा

रमजान उपवास करता है । कबीरदास सवाल करते हैं और च्यारह मास अलग क्यों कर दिए ? जो सब समान ही है । सुदा मस्जिद में वास्तव्य करता है, पूर्व दिशा में हरि रहता है और पश्चिम में अल्लाह का मुकाम होता है, मैं तो इन दोनों में भी उसे नहीं देखा । सब तो यह है कि दिल ही को सोचना चाहिए, उसमें ही राम-रहीम बस्ते हैं ।

कबीरदास के समय साधु संन्यासियों की साधना बाल-मुंडाने, बाल बटाने, शौञ्चा वस्त्र पहनने या नग्न रहने आदि तक सीमित थी ।

कबीर व्यंग्य करते हुए कहते हैं

‘कैसे कहा बिगारिया, जो मुंडें सौ बार ।

मन को काहे न मुँडिये जामे विकर विकार ॥’<sup>११</sup>

बालों ने हमारा क्या बिगाड़ा है ? जो हम अनेकों बार उनका मुंडन करते हैं । हमें तो चाहिए कि जिस मन में विषय विकार बढ़ते रहते हैं, उसका मुंडन करना चाहिए ।

‘नग्न फिरत जो पाइअ जोगु ।

बन का मिरगा कति समु लोगु ॥’<sup>१२</sup>

कबीरदास कहते हैं, ‘नग्न फिरने से अगर योग प्राप्त होता, तो बन के जानकर कब के योगी होते । स्पष्ट है कि विवस्त्र रहने से जोग प्राप्त नहीं होता, सांसारिक पाशों को तोड़कर सबेरे अर्थों में बैरागी होने से ही जोगी होता है ।

‘मन न रंगायो रंगायो जोगी कपडा ।

दाढी मूछ बढाय जोगी बन गया बन को बकरा ॥’<sup>१३</sup>

कबीर कहते हैं कि जोगी लोग वस्त्र को गेरुले रंग में रंगा कर परिधान करते हैं, दाढी-मुँछ बढ़ाकर जोगी बनने का दावा करते हैं, कबीरदास ने उस जोगी की खिल्ली उड़ाई है । वे कहते हैं, ‘हे जोगी हरि भक्ति के रंग में मन को न रंगा कर तु कपडे रंगाकर जोगी बन गया, दाढी- मुँछ बढ़ाकर जोगी बन गया, अरे यह तो बन का बकरा बन गया ।’

कुछ लोग केवल ब्रह्मचर्य को ही सब कुछ मानते थे और मात्र उसी के आधार पर मुक्ति-प्राप्ति की आशा रखते थे । कबीरदास कहते हैं --

बिन्दु राखे जो तरी ऐ माई ।  
सुसरे किठ न परम गति पाई । १४

समत्व और समन्वय - तथा मध्यम मार्ग --

कबीर का दृढ़ विश्वास था कि शान्ति तभी मिल सकती है जब मनुष्य में समदृष्टि आ जाती है । वे गीता के समान कहते हैं --

लोहा कंबन सम करि जानहिं, ते मूरत भगवाना । १५

इतना ही नहीं अन्त में उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया है कि कबीर के उध्दार का मुख्य कारण साम्य दृष्टि ही है :--

ऊँच नीच सम सरिया, तार्थे जन कबीर निस्तरिया । १६

कबीर की वाणी ने समाज क्षेत्र में एक और बहुत बड़ा कार्य किया था । वह है सात्विकता और आचरण-प्रवणता का प्रचार । कबीर के युग में वासना अपना भयंकर रूप धारण करती जा रही थी । कबीर को उसका दृढ़ सामना करना पड़ा था । उसके लिए उन्हें स्त्रियों की निन्दा करनी पड़ी । ब्रह्मचर्य का उपदेश देना पड़ा । इसके अतिरिक्त उन्होंने मांस-भक्षण, मद्यपान आदि का भी निषेध किया । उन्होंने समाज में सात्विक वृत्तियों के प्रचार के लिए बड़ा तप किया था । क्रोध, लृप्तता, कपट आदि जितनी कुप्रवृत्तियाँ हैं, उन सब के वे कटु विरोधी थे ।

जीवन की सरलता, हृदय की निष्कपटता, मन की शुद्धता आदि का प्रचार करना कबीर के सामाजिक सुधार का प्रमुख लक्ष्य था । उन्होंने इन पर सर्वत्र जोर दिया है । कभी-कभी तो कबीर का सुधारक और उपदेशक रूप बहुत स्पष्ट हो गया है ।

चलो विचारी रहीं संभारी, कहता हूँ जू पुकारी । १७

उन्होंने मिथ्या कर्म-काण्ड का भी बड़ा विरोध किया है। उनका अटल विश्वास था कि :--

“कृणी करनी राम न पावै, साँच टिके निज रूप दिखावै।”

कबीर के समन्वय में, सबसे अधिक उल्लेख्य समन्वय निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग का है - इसे परलोक और लोक-धर्म तथा व्यवहार, या संन्यासी और गृहस्थ का समन्वय भी कहा जा सकता है। उनके काल में हमारा समाज इस आधार पर भी लगभग दो भागों में विभाजित हो गया था। साधु-सन्त-संन्यासी आदि आध्यात्मिक साधना में लीन थे, तो उनसे संसार से कोई सम्बन्ध न था और गृहस्थ लोक-व्यवस्था में लीन थे, तो उनसे सब्से अर्थों में आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध न था। कबीर ने इस दरार को देखा और दोनों को समन्वित करके अर्थ, धर्म, काम, मोक्षा को समन्वित कर दिया। वे यह नहीं चाहते थे कि ईश्वर के साधक काम न करे और भीख माँगे। वे कर्म करते हुए धर्म या भक्ति आदि करने के पहापाती थे --

“कबीर जे धर्म तौ धूलि, बिन धर्म धूलै नहीं।

ते नर बिनठे मूलि, बिन धर्म मै ध्याया नहीं।”

बिना धर्म या काम के मूर्ख्य पवित्र नहीं होता, किन्तु जो केवल धर्म ही करता है, वह मूर्ख नष्ट हो जाता है। यह था प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग का समन्वय। निवृत्ति-मार्ग में भी भक्ति, ज्ञान और योग की प्रायः तीन अलग-अलग धाराएँ थीं। कबीर ने इन तीनों को भी समन्वित किया और स्वयं तीनों को अपनाया। वे योग साधते थे और योगी थे। भक्ति करते थे और भक्त थे, ज्ञान को आवश्यक मानते थे और ज्ञानी थे।

कबीर का मध्यम मार्ग भी एक प्रकार से दो अतियों या सीमाओं का समन्वय ही है। जिसमें सुख-दुःख, निवृत्ति-प्रवृत्ति, मोक्ष-मूला आदि की सीमाओं को छोड़ बीच में चलने का आदेश दिया गया है। इसी प्रकार उन्होंने हर धर्म से अच्छी बातों को ग्रहण कर उनका भी समन्वय किया। सभी धर्मों की उन मूल बातों के समन्वय पर ही कबीर का धर्म आधारित है।

उन्होंने निवृत्ति को बुरा नहीं माना है, किन्तु उसके कृत्रिम आडम्बर को बुरा माना है। वस्त्र मगवे रंग में रंग कर अथवा सिर के बाल छुटाकर संन्यासी बनने की अपेक्षा वे मन को रंगना और मुंडवाना अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए उन्होंने ऐसे मध्यम मार्ग का उपदेश दिया, जिस में मुक्ति और भक्ति दोनों हैं। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी निष्काम भक्ति-भावना से निरासक्त आचरण करना उनके मध्यम मार्ग का मूल मंत्र है, क्योंकि वे यह मानते हैं कि एक गृहस्थ भी बंरागी हो सकता है। गृही और बंरागी का अन्तर उनकी दृष्टि में बड़ा नाजूक है। बिरले ही इसे समझ पाते हैं ---

गावन ही में राजे हैं, रोकन ही में राग ।  
एक बंरागी ग्रिह करे, एक ग्रिही बंराग ॥ २०

समन्वय के सिलसिले में अन्तिम उल्लेख कथनी और करनी का किया जा सकता है। कबीर दोनों का ऐक्य चाहते थे। यह नहीं कि कहे कुछ और करे कुछ और --

कथनी कथी तौ क्या भया, जे करणी ना ठहराइ ।  
जैसी मुवतें नीकसैं तैसी बालें चाल । २१

तत्कालीन समाज का दर्शन कराते हुये कबीर ने दिखाया है कि उनके समय समाज के लोगों की कथनी और करनी में एकता नहीं थी। धर्म के ठेकेदार ही अगर स्वयं गलत रास्तेपर चलते थे, तो सामान्य जनता ठीक रास्ते पर चलाकर चलती ? इसी कारण कठोर बनकर कबीरदास को अपनी वाणी द्वारा समाज की सभी इकाइयों को कथनी और करनी की एकता की चेतावनी देनी पड़ी।

### आर्थिक दृष्टि --

समाज के आर्थिक पहलू में भी कबीर समरसता के पीछे हैं। जीवन-यापन के लिए धन आवश्यक है। साधु-सन्त भी अपने लिए कमायें। मीस्र मोंगना उन्हें पसन्द नहीं था ---

मोंगण मरण समान है बिरला बंवे कोइ ।  
कहे कबीर रघुनाथ साँ मति रे मोंगवे मोइ । २२

भक्ति के लिए वे आर्थिक दृष्टि से उचित निश्चिन्तता चाहते थे। उन्हें सब मालूम था मूला कुछ नहीं कर सकता। वे कहते हैं ---

‘मूले भगति न कीजे। यह माला अपनी लीजे।’ २३

कबीर जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को अनावश्यक नहीं मानते थे। वस्तुतः वे गृहस्थ को साधु और साधु को गृहस्थ बनाना चाहते थे कि दोनों में कोई अंतर न रहे। हर व्यक्ति साधु और भक्त भी हो, एवं कर्मठ गृहस्थ भी।

संयद्वृत्ति आर्थिक विषमता को जन्म देती है। जिससे विषमतावाद उपस्थित होता है। अतः उन्होंने इसका विरोध किया है। कई स्थलों पर ‘मेरी मेरी’ की भावना का उन्होंने विरोध किया है। वे कहते हैं --

‘मेरी’ ‘मेरी’ करना मिथ्या प्रपंच है। ( संसार में कुछ भी किसी का नहीं ) यहाँ तक की मृत्यु के उपरांत शव का चिरकुट भी नाच-खसोट कर डोम ले जाता है और कटि-सूत्र तथा कटि-अस्त्र तक यहाँ <sup>जाना</sup> रख पडता तो यहाँ अपना क्या है ?

‘कह कबीर सुनौ रे स्तौ मेरी मेरी झूठी।

चिरकुट पनारि बुहाडा लै गया तनीं तागरी छूटी।’ २४

इसी तरह वे कहते हैं कि जैसे मधुमक्षी जोड़-जोड़ कर मधु इकट्ठा करती है, उसी तरह आदमी धन जोड़ते-जोड़ते सब मर जाता है तब घर के ही लोग उसे तुरंत बाहर निकालने की सचिंत है। ‘मेरी’, ‘मेरी’ की भावना मिट जाती है, तब प्रभु स्वयं आकर काम सँवार देता है। वे पेट समाता लेने को बुरा नहीं मानते किन्तु गठरी बाँधने के विरोधी है।

‘स्त न बांधी गांठुही, पेट समाता लेइ।

साँई सुं सभुअ रहै, जहाँ मांगै तहाँ देइ।’ २५

स्तंजन आवश्यकतानुसार ग्रहण करते हैं। वे संग्रह नहीं करते। वे ईश्वर को भक्ति में लीन रहते हैं। जहाँ सब जैसी आवश्यकता होती है, स्वामी उन्हें देता है।

वे जमाखोरी और पैसे के गर्व और प्रदर्शन के विरोधी थे । वे सब तरह के विलास और नशों के विरोधी थे । वे सादगी और संतोष के प्रचारक थे और इस में विश्वास करते थे कि हर एक को शरीर भ्रम करना चाहिए और अपना-अपना काम करना चाहिए । किसी को दूसरे की संपत्ति नहीं चुरानी चाहिए ।

धन की चिन्ता वे बेकार समझते हैं क्योंकि स्वामी सर्व समर्थ है । पशु-पक्षी तथा जीव-जंतु को गांठ में कहीं को पूँजी है, जिसे उनका जीवन यापन होता है ? भगवान ही उन सबको रक्षा करनेवाला हैं ।

इस प्रकार कबीर ने तत्कालीन समाज के योगी और भोगी दोनों की संव्य-वृत्ति पर प्रकाश डाला है और वह वृत्ति सब के लिये कभी हानिकारक है यह अपनी वाणी द्वारा बताया है ।

### कबीर का मानक्तावाद --

हिन्दी साहित्य में कबीर से बड़ा मानक्तावादी कोई नहीं हुआ । उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित समस्त अंध विश्वासों, रूढ़ियों तथा भ्रष्ट सिद्धान्तों द्वारा प्रचारित सामाजिक विषमताओं को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया और निर्ममतापूर्वक सभी पाषण्डों पर प्रहार किया । उन्होंने तत्कालीन सामन्तों तथा शासकों को लक्ष्यकर ऐसी अनेक बातें कही हैं जिन से भौतिक ऐश्वर्य पर आधारित उनके झूठे अभिमान का समूल नाश हो । "सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में आज भी कबीर का काव्य तीक्ष्ण शस्त्र है । कबीर से हम रूढ़िगत, सामन्ती, दुराचार और सामाजिक अन्यायी व्यवस्था के विरुद्ध उठकर लड़ना सीखते हैं और यह भी सीखते हैं कि विक्रोही कवि किस प्रकार अन्त तक शोषण के दुर्ग के सामने अपना माथा ऊँचा रखता है ।" १५

कबीर समाज - सुधारक के रूप में ---  
-----

कबीर ने केवल क्षण्डन के लिए क्षण्डन नहीं किया, बल्कि जिस समाज में उन्होंने जन्म लिया था, उसका पतन उनसे देखा नहीं जाता था और सारी विकृतियों के जो मूल कारण थे उनकी सरे आम कहने की उन में निर्भक्ता थी। इसीलिए उन्होंने क्षण्डन किया और फिर उनके पास इन सारे रोगों की समर्थ आँखा थी सद्ब्रह्म भक्ति की संजीवनी। इसलिए उनके क्षण्डन में पूर्ण आत्मविश्वास का स्वर है। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि सद्ब्रह्म-भक्ति ही उनका वस्तुतः साध्य है। उसी की सिद्धि के लिए क्षण्डन को उन्होंने साधन के रूप में अपनाया है। इस वास्तविकता पर कबीर को कौरा समाज-सुधारक मानना उनके साथ अन्याय करना है। समाज-सुधारक होना कोई बुरी बात नहीं, किन्तु कबीर समाज-सुधारक से भी बड़े भक्त हैं। उन्होंने मनुष्य को मनुष्य मानकर उसका मूल्यांकन करना बताया। जातिगत, कुलगत तथा सम्प्रदायगत विशेषताएँ उनकी दृष्टि में गौण हैं। वस्तुतः वे उस ऊँचे धरातल पर सहे थे, जहाँ न मनुष्य हिन्दू है, न मुसलमान, वह केवल मनुष्य है। निःसंदेह यह वैचारिक धरातल इतना ऊँचा है कि न केवल हिन्दू - मुसलमानों को बल्कि समस्त सन्सार को एकता के सूत्र से बाँध सकता है। फिर भी उनकी एकता की बात वैसी ही नहीं है, वैसी किसी समाज सुधारक की होती है। सुधारक की दृष्टि में एकता साधन है और शान्ति उसका साध्य है। कबीर मानव की एकता का प्रतिपादन इसलिए नहीं करते कि उसके द्वारा उन्हें किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति करना है। राजनीतिक दृष्टिकोण कबीर के सामने था ही नहीं। वे एकता का प्रतिपादन इसलिए करते हैं कि वही ठीक रास्ता है। इस के आधार पर हम यह भले ही कह सकते हैं कि उनके दिखलाए गए मार्ग पर चलने से ही सुधार हो सकता है, किन्तु केवल इतने से ही हम उन्हें समाज-सुधारक नहीं मान सकते। उनकी भक्ति का होत्र वस्तुतः इतना विशाल और व्यापक है कि हम उन्हें सद्ब्रह्म ही समाज सुधारक भी मान सकते हैं, किन्तु सुधारवाद उनका साध्य नहीं, वह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के शब्दों में -- फेनोका का माल है ( बाइ प्राइवट ) जो भक्ति के बिरते पर उन्हें मिल गया है।



निष्कर्ष ---

कबीर की बाह्याचारों और केवल धार्मिक विधियों के प्रदर्शन की आलोचना हठयोगियों और कबीर के गुरु रामानन्द से मिली परम्परा है। इस संदर्भ में डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी जी कहते हैं -- जिन दिनों, कबीरदास का अविर्भाव हुआ था, उन दिनों हिन्दुओं में पौराणिक मत ही प्रबल था। परन्तु यह साधारण गृहस्थों का धर्म था। देश में और भी नाना भौतिकी की साधनाएँ प्रचलित थीं। कोई वेदपाठी था, तो कोई उदासी, कोई ऐसा न था, जो दीन बना फिरता था। कोई तो दान-गुण्य में ही व्यस्त था, कोई मंदिरों के सेवन को ही चरम साधना मानता था, तो कोई तंत्र-मंत्र आँजाघादि की करामात से ही सिद्ध बना फिरता था, कोई सिद्ध था, कोई तीर्थव्रती था और धूम्रपान से शरीर को काला बना रहा था। सब थे, पर कोई रामनाम में लीन नहीं था। सद्गुरु ( रामानन्द ) की कृपा से कबीरदास को यह महामंत्र मिल गया था। उस समय मुनि थे, पीर थे, दिगंबर थे, जंगम थे, ब्राह्मण थे, संन्यासी थे, पर सभी माया के चक्कर में पड़े हुए थे। २७

यहाँ कबीर के धार्मिक, सामाजिक, आचारिक तथा व्यावहारिक सिद्धान्तों की कुछ प्रमुख बातों को देखा गया। इससे स्पष्ट है कि वे समाज, व्यक्ति तथा व्यक्ति का व्यवहार कैसा चाहते थे। धर्म उन के लिए हृदय और मन की बीज थी। बाह्याचार का उनके लिए कोई मूल्य न था। भगवान के प्रति प्रेम और आस्थाओं के साथ यदि कोई अपने उचित पथ का अनुसरण कर रहा है, तो वह उनकी दृष्टि में सच्चा धार्मिक था और ऐसे लोगों का समाज ही उन के लिए आदर्श समाज था।

डा. रामकुमार वर्मा का कथन है -- "कबीर ने धर्म के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति उपस्थित की जो किसी धर्म के आचार्य के द्वारा जनता के बीच में अभी तक उपस्थित नहीं की जा सकी थी। उन्होंने पहली बार इस धार्मिक क्रान्ति के सहारे जनता के हृदय में अपने धर्म के लिए ऐसी सच्ची श्रद्धा का बीज बपन किया, जो अनेक युगों तक राजनीति और अन्य धर्मों के प्रचंड आघातों से भी जर्जरित नहीं हो सका। यह विचारधारा जनता के लिए एक ऐसी शक्ति बनी जिस के द्वारा उनके जीवन का सब से बड़ा बल सिद्ध हुआ।" २८

कबीर ने सभी रूढ़ियों, आडम्बरों और पाखण्डों का सुलकर सण्डन करके समाज में निरन्तर बल्लेवाली हलबल पैदा कर दी। मसि कागद को न छूनेवाले कबीर ने काशी के पण्डितों, मुल्लाओं और काजियों को जिस साहस और निर्मिक्ता के साथ ललकारा वह इतिहास की अमृतपूर्व घटना थी। कबीरदास सब्बे थे और यह सब है कि सौच को औच नहीं होती।

वस्तुतः कबीर सब्बे सुधारक थे। सम-द्रष्टा थे, उनकी दृष्टि में किसी बुराई के लिए न कोई स्थान था और न ही किसी प्रकार का पक्षपात। उन्होंने प्रत्येक प्रकार की बुराई का निर्ममतापूर्वक तीव्र सण्डन किया। कबीर ने स्वतंत्र चिन्तन के साथ धर्म के प्रति जनता में आकर्षण भी उत्पन्न किया। नैतिकता को महत्व देते हुए कबीर ने विशुद्ध वातावरण को व्यवस्था और मर्यादा प्रदान की। बुराईयों का सण्डन करते हुए सत्य की प्रतिष्ठा की ओर ध्यान दिया। एक मानव धर्म के अविच्छकार द्वारा पथभ्रष्ट हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए नवीन और सत्य-मार्ग का प्रदर्शन किया। वर्ग और सम्प्रदाय की रूढ़ियों में जकड़े मानव-समाज को स्वतंत्र और उन्मुक्त वातावरण में श्वास लेने की प्रेरणा दी।

यों कबीरदास ने अपने समय के सोखले समाज का अपनी बाणी द्वारा मात्र निर्जिव चित्रांकन नहीं किया, बल्कि निर्भयता के साथ संपूर्ण समाज को प्रथम स्वयं आचरण कर फिर कभी समझा-बुझाकर तो कभी डाँट-फटकार के साथ सत्य के मार्ग पर लानेका अथक, मृत्युपर्यन्त प्रयत्न किया है। कबीरबाणी द्वारा न केवल तत्कालीन समाज-दर्शन होता है, बल्कि उससे कबीरदास के एक सब्बे भक्त एवं एक सब्बे समाज-सुधारक के रूप सामने आते हैं। और उस अनपट महात्मा के इस महान कार्य को देख उनके सामने मस्तक अपने आप झुक जाता है।

सं.क्र.	ग्रंथ का नाम	लेखक	पृ.क्र.	प्रकाशन । प्रकाशक एवं संस्करण
१	कबीर ग्रंथावली	डा. सावित्री शुक्ल डा. चतुर्वेदी	६९६	प्रकाशन केन्द्र लखनऊ-७ प्रियवंदा प्रेस, आगरा
२	कबीर ग्रंथावली	डा. सावित्री शुक्ल डा. चतुर्वेदी	६९९	प्रकाशन केन्द्र लखनऊ-७ प्रियवंदा प्रेस, आगरा
३	कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन	डा. आर्या प्रसाद त्रिपाठी	२६६	सरोज प्रकाशन इलाहाबाद-२ प्रथम संस्करण सितम्बर १९७४
४	कबीर ग्रंथावली	प्रौ. पुष्पपाल सिंह	३२४ ३२९	अशाक प्रकाशन नई सडक, दिल्ली-६ चतुर्थ संस्करण १९७२
५	युगपुरतछा कबीर	डा. रामलाल वर्मा डा. रामचंद्र वर्मा	१६०	भारतीय ग्रंथ निकेतन दिल्ली-६ प्रथम संस्करण १९७६
६	संत कबीर	डा. राम कुमार वर्मा	२६	साहित्य भवन(प्रा.) लिमिटेड, इलाहाबाद आठवीं आवृत्ति १९६७

सं.क्र.	ग्रंथ का नाम	लेखक	पृ.क्र.	प्रकाशन । प्रकाशक एवं संस्करण
७	युगपुष्ठा कबीर	डा.रामलाल वर्मा डा.रामचंद्र वर्मा	१६०	भारतीय ग्रंथ निकेतन दिल्ली-६ प्रथम संस्करण १९७८
८	युगपुष्ठा कबीर	डा.रामलाल वर्मा डा.रामचन्द्र वर्मा	१६०	भारतीय ग्रंथ निकेतन दिल्ली-६ प्रथम संस्करण १९७८
९	युगपुष्ठा कबीर	डा.रामलाल वर्मा डा.रामचंद्र वर्मा	१६१	भारतीय ग्रंथ निकेतन दिल्ली-६ प्रथम संस्करण १९७८
१०	कबीर	प्रभाकर माचवे	२९	साहित्य अकादेमी दिल्ली-१ प्रथम संस्करण १९६४
११	कबीर-वाणी संग्रह	डा.पारसनाथ तिवारी	१७७	राका प्रकाशन इलाहाबाद-२ पंचम संस्करण १९७५ ई.
१२	कबीर बीकन और दर्शन	डा.मौलानाथ तिवारी	९७	साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड, इलाहाबाद-३ प्रथम संस्करण १९७८

सं.क्र.	ग्रंथ का नाम	लेखक	पृ.क्र.	प्रकाशन । प्रकाशक एवं संस्करण
१३	कबीर और उनका काव्य	डा. मोलानाथ तिवारी	१२७	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली अप्रैल १९६१
१४	कबीर जीवन और दर्शन	डा. मोलानाथ तिवारी	१७	साहित्य भवन(प्रा.) लिमिटेड इलाहाबाद-३ प्रथम संस्करण १९७६
१५	कबीर की विचारधारा	डा. गोविन्द त्रिगुणायत	३३६	साहित्य निकेतन कानपुर-१ तृतीय संस्करण भावणी सं. २०२४
१६	कबीर की विचारधारा	डा. गोविन्द त्रिगुणायत	३३९	साहित्य निकेतन कानपुर-१ तृतीय संस्करण भावणी सं. २०२४
१७	कबीर की विचारधारा	डा. गोविन्द त्रिगुणायत	३३९	साहित्य निकेतन कानपुर-१ तृतीय संस्करण भावणी सं. २०२४
१८	कबीर की विचारधारा	डा. गोविन्द त्रिगुणायत	३४०	साहित्य निकेतन कानपुर-१ तृतीय संस्करण भावणी सं. २०२४

-कही-

सं.क्र.	ग्रंथ का नाम	लेखक	पृ.क्र.	प्रकाशन । प्रकाशक एवं संस्करण
१९	कबीर काव्य कौस्तुभ	डा.बालमुकुन्द गुप्त	३८	साहित्य संगम आगरा-३ चतुर्थ संस्करण १९७१
२०	कबीर वाणी संग्रह	डा.पारसनाथ तिवारी	७५	राका प्रकाशन इलाहाबाद-३ पंचम संस्करण १९७५ ई.
२१	कबीर जीवन और दर्शन	डा.मौलानाथ तिवारी	९६	साहित्य मकन(प्रा.) लिमिटेड, इलाहाबाद-३ प्रथम संस्करण १९७६
२२	कबीर और उनका काव्य	डा.मौलानाथ तिवारी	१३३	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली अप्रैल १९६१
२३	कबीर और उनका काव्य	डा.मौलानाथ तिवारी	१३३	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली अप्रैल १९६१

सं.क्र.	ग्रंथ का नाम	लेखक	पृ.क्र.	प्रकाशन । प्रकाशक एवं संस्करण
२४	कबीर-बाणी संग्रह	डा.पारसनाथ तिवारी	१६५	राका प्रकाशन इलाहाबाद-२ पंचम संस्करण १९७५ ई.
२५	कबीर ग्रंथावली	डा.सावित्री शुक्ल डा.चतुर्वेदी	२५३	प्रकाशन केंद्र लखनऊ-७ प्रियंवदा प्रे,आगरा
२६	कबीर-बाणी संग्रह	डा.पारसनाथ तिवारी	७०	राका प्रकाशन इलाहाबाद-२ पंचम संस्करण १९७५ ई.
२७	कबीर	प्रभाकर माचवे	३०, ३१	साहित्य अकादेमी दिल्ली-१ प्रथम संस्करण १९६४
२८	युगपुष्पा कबीर	डा.रामलाल वर्मा डा.रामचन्द्र वर्मा	१६३	भारतीय ग्रंथ निकेतन दिल्ली-६ प्रथम संस्करण १९७६ ।